ज्ञानवृद्ध सत्पुरुषों की सेवा भी करता है, ऐसे विशद पण्डित जन ही शिष्ट पुरुष कहलाते हैं। हमें उन पुरुषों के शिष्टाचार की प्रशंसा करनी चाहिए। योगशास्त्र में गृहस्थ को शिष्टाचार प्रशंसक बनने का सन्देश दिया गया है।[1] अतएव उत्तम श्रावकों को शिष्टाचार प्रशंसक और गुणानुरागी होना चाहिए। श्राद्धगुण विवरण में भी कहा गया है कि पुण्य के कार्य को न करने वाला प्राणी कपट व कोप से रहित होकर शिष्टाचार की प्रशंसा कर बोधिबीज को धारण कर लेता है।[2]

3. समान कुल शील वाले भिन्नगोत्रीय के साथ विवाह सम्बन्ध

पिता और पितामह आदि पूर्व पुरुषों के वंश को कुल कहते हैं और मद्य, मांस एवं रात्रि भोजन आदि दुर्व्यसनों के त्यागरूप आचार को शील कहते हैं। जैन दर्शन सम्मत देव, शास्त्र एवं गुरु और क्रियाकलाप के सेवन रूप आचार को समान कुल शील वाला कहते हैं। इस तरह गृहस्थ का कर्त्तव्य बन जाता है कि वह अपनी कन्या का भिन्नगोत्रीय वर के साथ विवाह करे। इससे घर की व्यवस्था, कुलीनता, आचार शुद्धि, देव, अतिथि व बन्धुजन का सत्कार सुरक्षित रहता है। इसलिए योगशास्त्र में कहा है–कुलशीलसमैः सार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः।[3] श्राद्धगुणविवरण में कहा है कि विवेकी पुरुषों को धर्म व कीर्ति को फैलाने के लिए इस लोक में समान कुल और आचार का अवलोकन करके पवित्र वर को अपनी पुत्री देनी चाहिए और इसी तरह सुख की वृद्धि के लिए (पुत्र के लिए) दूसरी कन्या लानी चाहिए।[4]

भगवती[5] और ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र[6] में महाबल और मेघकुमार के विवाह प्रसंग में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि कन्या और वर परस्पर वय, रूप, सुन्दरता

1. योग०, 1/47
2. अकुर्वन्नपि सत्पुण्यं शिष्टाचार प्रशंसया।
   दम्भ सरम्भ मुक्तात्मा प्राणी प्राप्नोति तत्फलम्।।
   श्राद्ध०, 2, पृ० 22
3. योग०, 1/47
4. विवेकिना धर्मयशोभिवृद्धये सम कुलाचारमिहावलोक्य।
   वराय शुद्धाय सुताप्रदेया नेवा तथाऽन्यापि सुखोद्याय।।
   श्रा० 3, पृ० 8.
5. सरिसयाणं सरिसवणं, रिसत्ताणं, रिसलावण्णरूवजोवणु
   गुणोववेयाणं सरिस एहि तो–
   भग०सू०, 11/11.
6. ज्ञाता० सू०, 1/104.

तथा यौवन की दृष्टि से समान थे, जिस कारण उनके जीवन में परस्पर स्नेह सम्बन्ध बना हुआ था। आगमों में इस प्रकार का भी वर्णन आता है कि पति-पत्नी में सदैव धर्म स्नेह रहता था।

सम्भवतः इसी कारण आनन्द श्रावक की पत्नी शिवानन्दा[1] और शकडालपुत्र श्रावक की पत्नी अग्निमित्रा[2] ने भी अपने पति के समान श्राविका के व्रत अंगीकार किए।

चाणक्यनीति में कहा गया है कि बुद्धिमान उत्तम कुल की कन्या कुरूप भी हो, तब भी उसका वरण करना चाहिए, नीचकुल की सुन्दरी को नहीं, कारण कि विवाह तुल्य कुल में करना श्रेष्ठ है।[3]

4. पाप भीरू

दृष्ट और अदृष्ट दुःख के कारण कर्मों से डरने वाला पाप भीरू कहलाता है। इसमें चोरी, परदारागमन, जुआ आदि लोक प्रसिद्ध पाप कर्म हैं, जो इस लोक और परलोक में हानि पहुँचाने वाले हैं। श्राद्धगुण विवरण में कहा गया है कि विमल हृदय वाला, धर्म रूप कार्य में एक चित्त वाला विवेकी होता है, वह मनुष्य देव और मनुष्य सम्बन्धी सुखों का प्राप्त करके मोक्षरूपी लक्ष्मी के नायकत्व को बिना ही श्रम के प्राप्त कर लेता है।[4] तभी सद्गृहस्थ का पाप भीरू गुण बताया गया है।[5]

5. प्रसिद्ध देशाचार का पालक

सद्गृहस्थ को शिष्ट पुरुषों देश व समाज द्वारा मान्य, चिरकाल से चले आते हुए परम्परागत वेशभूषा, भाषा, पोशाक, भोजन आदि को सहसा नही छोड़ देना चाहिए, कारण यह है कि गृहस्थ का जीवन समाज और राष्ट्र से सम्बन्धित होता है। जिसे अपने देश व राष्ट्र के प्रति गौरव है, वह देशाचार का उल्लंघन कभी भी नहीं

1. उपा०सू०, 1/58.
2. वही, 7/207
3. चाण०, 1/14
4. विमलवदिति यः स्यात् पाप भीरु प्रवृत्तिः।
   सतत सदयचितो धर्मकर्मैकचित्तः।
   स सुरनरसुखानि प्राप्य जाग्रद्विवेकः।
   कलयति शिवलक्ष्मीनायकत्व सुखेन।।
   श्राद्ध०, 4, पृ० 6.
5. योग०, 1/48.

करता। इसलिए सम्भवत: श्राद्धगुणविवरणकार ने भी लिखा है कि गृहस्थाश्रम में रहने वाला जो पुरुष शिष्ट पुरुषों का सम्मान एवं अपने देशाचार का योग्य रीति से आचरण करता है, वही लोक में माननीय होता है और यश एवं अपने कार्य में भी सफलता प्राप्त करता है।[1]

6. अवर्णवादी न होना

अवर्णवाद का अर्थ है–निन्दा। सद्गृहस्थ को किसी का भी अवर्णवाद नहीं करना चाहिए। चाहे वह व्यक्ति जघन्य ही क्यों न हो। यदि वह मध्यम है या उत्तम, तब तो उसके अवर्णवाद करने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर अवर्णवाद क्या सुखदायक है, नहीं, बल्कि वह तो स्वघातक होता है।

इसी कारण भगवान् महावीर स्वामी ने निन्दा को पीठ का मांस खाने के सदृश बतलाया है।[2] तथागत बुद्ध ने भी कहा है कि जो व्यक्ति दूसरो की निन्दा करता है, वह अपने मुख से पाप एकत्र करता है।[3] योगशास्त्र में भी कहा है कि प्राणी को निन्दा करने वाला नहीं होना चाहिए।[4] श्राद्धगुण विवरण में कहा गया है कि इस प्रकार निरन्तर निन्दा करने योग्य ऐसा दूसरे का अवर्णवाद व उसका सुनना इस दोनों का त्याग करता हुए गृहस्थ जगत में प्रशंसनीय होने से सद्धर्म के योग्य होता है।[5] चाणक्यनीति में निन्दक को चाण्डाल कहा गया है।[6]

---

1. समाचरन् शिष्ट मतस्व देशाचार यथोचित्य वशेन लोके।
   सर्वाभिगस्यो लभते यशांसि स्वकार्य सिद्धिश्च गृहाश्रमस्थ:।।
   श्राद्ध० 4 पृ० 11.
2. पिट्ठिमंसं न खाइज्जा।।
   दशवै०सू०, 8/47
3. विचिनाति मुखेन सो कलिं, कलिना तेन सुखं न विदन्ति।।
   सुत्तनि कोकालियसुत्त, गा०-2, पृ० 144.
4. अवर्णवादी न क्वा०पि राजादिषु विशेषतु:।।
   योग०, 1/48
5. इत्थं सदा निन्द्यमवर्णवादं त्यजन्यरेषां श्रवणं च तस्य।
   जगज्जनश्लाध्यतया गृहस्थ: सद्धर्म योग्यो भवती सम्यक्।।
   श्राद्ध०, 4/17
6. काक: पक्षिषु चाण्डाल: पशूनांचैव कुक्कुर:।
   पापो मुनीना चाण्डाल: सर्वेषा चैवमिदक:।।
   चाण०, 6/2

7. सद्गृहस्थ के रहने का स्थान

गृह में रहने के कारण मनुष्य गृहस्थ कहलाता है। सद्गृहस्थ का मकान आने जाने के अनेक भागों से रहित होने चाहिए। दूसरे, गृहस्थ का घर प्रशस्त होना चाहिए। जहाँ हड्डियों आदि का ढेर न हो, तीक्ष्ण काँटे न हों और घर के आसपास बहुत ही दूब, घास, प्रवाल, प्रशस्त वनस्पति उगी हुई न हो। जहाँ मिट्टी अच्छे रंग की और सुगन्धित हो, जहाँ का पानी स्वादिष्ट हो, ऐसे स्थान को प्रशस्त माना गया है। मनुष्य को ऐसे स्थान पर रहना चाहिए, जहाँ पर सदाचारी पड़ौसी हों क्योंकि इससे गृहस्थ का वातावरण भी प्रभावित होगा। योगशास्त्र में कहा गया है कि गृहस्थ का आवास न एकदम खुला हो और न एकदम गुप्त ही हो।[1] श्राद्धगुण विवरण में योग्य स्थान के विषय में कहा गया है कि गर्मी के समय में शीत स्पर्श वाली हो, शरद ऋतु में उष्ण स्पर्श वाली हो और चौमासे में शीत उष्ण दोनों स्पर्श वाली हो, वह भूमि सब प्राणियों को कल्याण देने वाली होती है।[2]

8. सदाचारी के साथ संगति

सद्गृहस्थ के लिए सत्संग का बड़ा महत्त्व है। जो इह लोक व परलोक में हितकर प्रवृत्ति करते हों, उन्हीं की संगति अच्छी मानी जाती है। आचारांगसूत्र में भगवान् महावीर ने कहा–अज्ञानी व्यक्ति की कभी संगति नहीं करनी चाहिए, कारण उससे वैर बढ़ता है।[3] योगशास्त्र में आचार्य हेमचंद्र के अनुसार प्राणी को सदाचारी की सत्संगति करनी चाहिए।[4] श्राद्धगुण विवरण में कहा है कि हे प्राणी! जब तक तू सत्पुरुष की संगत में आसक्त रहेगा, तब तक सुखी रहेगा और अगर दुर्जन की संगति में आ पड़ेगा, तो दु:खी ही होगा।

यदि सत्संग निरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथासज्जन गोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि।।[5]

---

1. अनतिद्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रतिवेश्मिके।।
   योग०, 1/48
2. शीत स्पर्शोष्ण काले यात्युष्ण स्पर्शा हिमागमे।
   वर्षासु चोभयस्पर्शा सा शुभा सर्व देहिनाम्।।
   श्राद्ध०, भाग-4, पृ० 19.
3. अल बालस सगण वड्ढइ अप्पणा।।
   आ०सू०, 1/2/5/93-94.
4. कृतसंग: सदाचारै:।। योग०, 1/50
5. श्राद्ध०, 4, पृ० 28.

चाणक्यनीति में भी आता है कि सज्जन एवं साधुओं की संगति अति लाभकारी होती है। उनका दर्शन मात्र ही पुण्यकारी होता है। वे साक्षात् तीर्थ स्वरूप हैं। तीर्थ करने का फल तो समय आने पर ही मिलता है, किन्तु साधु-सन्तों का दर्शन और संगति तुरन्त फलदायी होती है।[1] नीतिशास्त्र में कहा गया है कि विद्या से विभूषित होने पर भी दुष्ट व्यक्ति का साथ छोड़ देना चाहिए।[2] चाणक्य नीति में भी कहा गया है कि संसार में ताप से जलते हुए पुरुषों के विश्राम के तीन हेतु हैं-लड़का, स्त्री और सज्जनों की संगति।[3]

9. माता पिता का पूजक

गृहस्थ को चाहिए की त्रिसमय अर्थात् प्रातः, दोपहर और संध्या के समय प्रतिदिन माता-पिता की प्रणाम आदि से पूजा करें क्योंकि तैत्तरीयोपनिषद् में कहा है माता और पिता देव के समान पूजनीय है।[4] स्थानांगसूत्र में भी कहा है व्यक्ति तीन माता-पिता एवं गुरु, के ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता।[5] मनुस्मृति में भी आता है कि दस उपाध्यायों के बराबर आचार्य होता है, सौ आचार्यों के बराबर एक पिता और हजार पिताओं के बराबर एक माता होती है।

उपाध्यायन् दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्र तु पितृन्माता, गौरवेणातिरिच्यते।।[6]

श्राद्धगुण विवरण में कहा गया है कि स्वतंत्र विचार करने वाले उत्तम मुरुष को उचित है कि अपनी आत्मा में कृतज्ञता लाने के लिए और संसार में धर्म की श्रेष्ठता दिखाने के लिए सदा माता-पिता की पूजा करने में तत्पर रहे।[7] योगशास्त्र में कहा

---

1. चाण०, 12/7
2. नी०श० 1/52
3. संसार ताप दग्धाना त्रयोविश्रातिहे तवः।
   अपत्यंचकलत्रं च सतां संगतिरेवच।।
   चाण०, 4/10
4. मातृदेवो भाव, पितृ देवो भव तैत०, 1/11/2.
5. स्था०सू०, 3/1/87
6. मनु०, 2/145
7. कृतज्ञता मात्मनि संविधातुम्, मनस्विना धर्ममहत्वहेतोः।
   पूजा विधौ यत्नपरेण माता, पित्रौः सदा भाव्य मिहोत्तमेन।।
   श्राद्ध०, भाग०, 4, पृ० 29.

गया है कि वह माता-पिता का पूजक बने।[1] चाणक्यनीति में भी कहा गया है कि माता से बढ़कर कोई देवता नहीं है।[2]

10. उपद्रव वाले स्थान को शीघ्र छोड़ देता है।

अपने राज्य या दूसरे देश के राज्य की ओर से भय हो, दुष्काल हो, महामारी आदि रोग का उपद्रव हो, महायुद्ध छिड़ रहा हो, लोगों के विरुद्ध होने से उस स्थान, गाँव व नगर में सर्वत्र अशान्ति पैदा हो गई हो, रात-दिन लड़ाई झगड़ा रहता हो, तो सद्गृहस्थ को वह स्थान शीघ्र छोड़ देना चाहिए। योगशास्त्र में वर्णन है कि मनुष्य को उपद्रवित को वह स्थान शीघ्र छोड़ देना चाहिए।[3] श्राद्धगुण विवरण में भी आता है कि जहाँ पर अच्छा कर्म हो, किला हो, व्यापार हो, जल हो, भोजन बनाने के लिए लकड़ी मिले, अपनी जाति वाले जहाँ निवास करते हों, ऐसे मनोहर देश में प्रायः रहना चाहिए और जहाँ पर गुणी लोग रहते हों, उत्तमोत्तम वार्ता होती हो, पवित्रता रहती हो, प्रतिष्ठता हो, गुण का गौरव हो, आलौकिक ज्ञान की प्राप्ति हो, वहाँ पर बुद्धिमान् निवास करें।[4]

11. निन्दनीय कार्य का त्यागी

सद्गृहस्थ को देश, जाति एवं कुल की दृष्टि से निन्दित कार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा होती है कि उसकी सभी प्रशंसा करें। पर वह प्रशंसा मिलती है, व्यक्ति को अपने सुन्दर आचरण से और भद्र व्यवहार से। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं-अप्रवृतिश्च गर्हिते।[5] देश, काल, पात्र जाति एवं कुल आदि की अपेक्षा जो बुरे कर्म हैं, उन्हें मनुष्य के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। प्राणी हमेशा अच्छा आचरण ही करें कारण की नीच कर्म करने वाला यदि उत्तम कुल में उत्पन्न भी

---

1. योग०, 1/50.
2. न मातुर्दैवतपरम्। चाण०, 17/7
3. त्यजन्नुपप्लुतं स्थानम्। योग०, 1/50
4. सद्धर्मदुर्गसुस्वामि वयवसाय जलेन्धने।
   स्वजातिलोकरम्ये च देशे प्रायः सदा वसेत।
   गुणिनः सुनृतं शैच प्रतिष्ठागुणगौरवम्।
   अपूर्वज्ञानलाभश्च यत्र तत्र वसेत्सुधी।।
   श्राद्ध०, 5, पृ० 11.
5. योग० 1/50.

हो, तो भी वह नीच ही है और यदि कोई जघन्य कुल वाला है, लेकिन उसके आचरण अच्छे हैं, तो वह उच्च गोत्री कहलाता है क्योंकि उसके आचरण की वह विशेषता है।[1] अतः व्यक्ति को चाहिए कि निन्दनीय कार्य न करे बल्कि जो नीति का मार्ग महापुरुषों ने बतलाया है, उसका अनुसरण करें। जैसे कि आचार्य भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहा भी है परम नीतिज्ञ पुरुष चाहें निन्दा करे या स्तुति, अपनी इच्छा अनुसार लक्ष्मी आए चाहें चली जाए। आज ही मृत्यु हो या युगान्तर में हो–इन बातों की चिन्ता नहीं करते, परन्तु धीर पुरुष न्याय के पथ से कदापि विचलित नहीं होते।

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा-
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।[2]

चाणक्यनीति में कहा गया है कि निन्दित कर्म करने के पश्चात् पछताने वाले पुरुष को जैसी बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसी यदि पहले होती, तो किसको बड़ी समृद्धि न होती।[3]

12. आय के अनुसार व्यय करना

सद्गृहस्थ को सदा यह सोचकर ही खर्च करना चाहिए कि मेरी आय कितनी है? यदि आय कम और खर्च अधिक है, तो जीवन अस्त व्यस्त बन जाता है। आय कम होने पर आवश्यकताएँ भी कम कर देनी चाहिए। उपासकदशांगसूत्र में आनन्द गाथापति ने अपनी आय को तीन भागों में बांटा था–1. धन का एक भाग व्यापार में लगा हुआ था। 2. एक भाग से घर की सम्पूर्ण व्यवस्था, अतिथि सेवा, दान आदि के कार्य किए जाते थे। 3. एक भाग भविष्य के लिए सुरिक्षत निधि के रूप में भूमि में रखा जाता था।[4]

1. न कुलं वृत्तिहीनस्य प्रमाणमिति मे मति।
अन्त्येष्वपि प्रजातानां वृत्तमेव विशिष्यते।।
श्राद्ध०, भाग 5, पृ० 24.
2. नी०श०, 86
3. उत्पन्नपश्चातापस्य बुद्धिर्भवति यादृशी।
तादृशी यदि पूर्वस्यात्कस्यनस्या महोदयः।।
चाण०, 14/7.
4. तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ,

इस प्रकार आय के अनुसार व्यय न करने वाले को संसार में शोभा, यश और धर्म की प्राप्ति नहीं होती। भविष्यकाल में भी कृपण की दुर्गति होती है क्योंकि धनवानों का गुण दान देना है और दान देने वालों का गुण धन है। यदि धनवान् दानी न हुए या दानी धनवान् न हुए, तो वह धन व दान दोनों व्यर्थ हैं।[1] योगशास्त्र में भी बताया गया है कि आय के अनुसार व्यय करने वाले बनो।[2] चाणक्य नीतिकार का भी कथन है कि वह अन्यायपूर्ण तरीके से धन न कमाएँ। अधर्म से प्राप्त धन से सुख एवं शांति नहीं आ सकती। मनुष्य को यह प्रणिधान करना चाहिए कि दूसरों को कष्ट तथा हानि पहुँचाकर और धर्म का उल्लंघन कर तथा शत्रु के सामने झुकने से जो धन प्राप्त होता है, तो मैं उसे स्वीकार नहीं करूंगा।[3]

13. सम्पत्ति के अनुसार वेष धारण

गृहस्थ की वेषभूषा देश, काल, आर्थिक स्थिति व जाति के अनुरूप रहनी चाहिए विशेषतः आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व विपन्न व्यक्ति के लिए। अभिप्राय यह है कि ऐसा वेष विन्यास रहना चाहिए, जिससे लोकापवाद न हो। इस विषय में योगशास्त्र में भी बतलाया गया है कि मनुष्य को वैभव के अनुसार पोशाक धारण करनी चाहिए।[4] श्राद्धगुणविवरण में आता है कि अपने धन के अनुसार उचित समय व अवस्था के अनुसार सदा कपड़े, गहने आदि से शरीर को सजाना चाहिए। जो दरिद्र बहुमूल्य वस्त्रादि धारण करता है, जो धनी फटे-पुराने पकड़े पहनता है और जो दीन दुर्बल बलवानों से विरोध करता है, इन तीनों की समझदार लोग हंसी उड़ाते हैं।[5]

चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ बुड्ढिपउत्तओ, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ पवित्थर
पउत्ताओ, चत्तारि, वया, दस-गो-साहस्सिएण वएण होत्था।।
उपा०सू०, 1/4

1. त्यागो गुणो वित्तवता वित्त त्यागवता गुणः।
परस्पर वियुक्तौ तु वित्तत्यागौ विडम्बना।
श्राद्ध०, भाग-6, पृ० 8.
2. व्ययमायोचितं कुर्वन्।
योग० 1/51
3. चाण०, 10/11
4. वेषं वित्तानुसारतः।
योग०, 1/51
5. आत्मवित्तानुसारेण कालौचित्येन सर्वदा।
कार्यो वस्त्रादि शृंगारो वयसश्चानुसारतः।

14. बुद्धि के आठ गुणों का धनी

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि सद्गृहस्थ को आठ प्रकार की बुद्धियों से युक्त होना चाहिए।[1] वे आठ बुद्धियाँ हैं–1. शुश्रुषा, 2. श्रवण, 3. ग्रहण, 4. धारण, 5. ऊह, 6. अपोह, 7. अर्थ विज्ञान और 8. तत्त्वज्ञान।[2] गृही जीवन एवं धर्म जीवन के कल्याण के लिए बुद्धि के आठ गुणों का अध्ययन करना आवश्यक है। जैसे खारे पानी के त्याग से और मीठे पानी के संयोग से बीज अंकुरित होता है, वैसे ही तत्त्व के सुनने से पुरुष दोष को छोड़कर गुण को ग्रहण करता है।[3]

15. प्रतिदिन धर्मश्रवण

धर्म अभ्युदय व कल्याण का कारण है, अत: सद्गृहस्थ को नितय धर्म श्रवण करना चाहिए।[4] श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा कि मानव को चार चीजों का मिलना अति दुर्लभ है–मनुष्य जन्म, श्रवण, श्रद्धा व आचरण[5]। इसमें श्रवण अत्यन्त दुर्लभ है और यदि उत्तम वाक्य को श्रवण करने का निमित्त मिल जाए तो अवश्य धर्म श्रवण करना चाहिए। दशवैकालिकसूत्र में आचार्य शय्यंभव ने कहा है कि सुनकर ही

अर्थादधिकनेपथ्यो वेषहीनोऽधिकं धनी।
अशको वैरकृच्छक्कैर्गृहादिन् रूपहस्यते।।
श्राद्ध०, भाग-6, पृ० 12

1. अष्टभिर्धीगुणैर्युक्त: योग०, 1/51
2. (क) सुश्रुषां श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणा:।।
श्राद्ध०, भाग-6, पृ० 16
(ख) कौटि०, 4/22
3. क्षाराम्भस्तपागतो यद्वत् मधुरोदक योगत:।
बीजं प्ररोह मादत्ते तद्वतत्त्व श्रुतेर्नर:।।
क्षाराम्भस्तुल्य इह च भवयोगोऽखिलोमत:।
मधुरोदक योगेन समा तत्त्वश्रुति स्मृता:।।
श्राद्ध०, भाग-6, पृ० 17
4. शृण्वानो धर्ममन्वहम्।।
योग०, 1/51
5. चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।।
उत्तरा०सू०, 3/1

कल्याण के मार्ग को एवं पाप मार्ग को समझा जाता है। दोनों को सुनकर ही मानव भिन्नता करता है और उन्हें जानता भी है कि आत्मा के लिए हितकारी मार्ग क्या है, जिसका आचरण करना चाहिए।[1] उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा[2] कारण कि उत्तम धर्म का श्रवण मिलना निश्चय ही दुर्लभ है। श्राद्धगुणविवरण में कहा है कि लाभ पहुँचाने वाली कथा का सुनने वाला चित्त के दु:ख को समझता है, समझकर वह दु:ख और थकावट का त्याग करता है, ताप को दूर करता है तथा इस संसार में व्याकुलता को त्यागकर स्थित होता है।[3]

16. अजीर्ण के समय भोजन छोड़ देना

पेट की अपच वा खराबी का नाम अजीर्णता है। अजीर्णता के समय भोजन का निषेध होता है। कारण उस समय भोजन विष समान होता है। अजीर्णत्व से शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं।[4] शरीर का रुग्ण रहना, भोजन हजम न होना आदि अजीर्णत्व के चिह्न हैं। इनकी पहचान के ओर भी अनेक चिह्न हैं, इनमें मल और वायु में दुर्गन्ध होना, देह का भारी होना, भोजन में रुचि न होना, गले में खटास होना[5] तथा खट्टी डकार आना–यह अजीर्ण के प्रत्यक्ष छह चिह्न हैं। अत: सद्गृहस्थ को अजीर्णता के समय भोजन त्याग देना चाहिए। जैसे कहा भी गया है कि रोग में, मोह के उत्पन्न होने के समय और स्वजनों के ऊपर दु:ख पड़ने पर, प्राणियों की दया के लिए, तपस्या के लिए और अन्त समय में शरीर छोड़ने के लिए भोजन नहीं करना चाहिए।[6]

---

1. सोच्चा जाणाइ कल्लाणं, सोच्चा जाणाइ पावगं।
उभयंपि जाणई सोच्चा, जं सेयं तं समायरे।।
दशवै०सू०, 411
2. उत्तरा०सू०, 10/18
3. क्लान्त मिहोज्झति खेदम्, तप्तं निर्वाति बुध्यते खेदम्।
स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषितं चेत:।।
श्राद्ध० 7, पृ० 1
4. अजीर्णे भोजनत्यागी।। योग०, 1/52
5. मलवातयोऽर्विगन्धो विड्भेदो गात्र गौरवमरुच्यम्।
अविशुद्धोद्गार: षड्जीर्णो व्यक्त लिङ्गानि।।
श्राद्ध० 7, पृ० 13
6. अहव ना जामिज्ज रोगे, मोहुदये समणमाइ उवसग्गे।
पाणिदया तवहेउं, अंते तणुमोपणत्थं च।।
वही, 7, पृ० 15

17. समय पर पथ्य भोजन करना

सद्गृहस्थ के लिय यह आवश्यक है कि वह भूख लगने पर आसक्ति रहित होकर अपनी प्रकृति, रुचि, जठराग्नि व खुराक के अनुसार उचित मात्रा में भोजन करे।[1] यहाँ स्मरणीय है कि भोजन करते समय मन प्रसन्न रहना चाहिए। प्रकृति विरुद्ध, पाचाग्नि विरुद्ध और भूख न होने पर भोजन करना हानिकारक है। श्राद्धगुणविवरण में कहा है कि अरी जीभ! भोजन करने के व बोलने के प्रमाण को समझ लेना, अत्यधिक खाना और बहुत बोलना प्राणियों की मृत्यु का कारण होता है।[2] समय पर पथ्य भोजन करने से आरोग्य लाभ होता है। स्थानांगसूत्र में भी दस प्रकार के सुखों में से आरोग्य को पहला स्थान दिया गया है।[3]

18. परस्पर अबाधित रूप से त्रिवर्ग: धर्मार्थकाम की साधना करना

धर्म, अर्थ और काम–ये त्रिवर्ग कहलाते हैं। जिनसे अभ्युदय और मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है। जिससे लौकिक सर्व प्रयोजन सिद्ध हो, वह अर्थ है और अभिमान से उत्पन्न, समस्त इन्द्रिय सुखों से सम्बन्धित रसयुक्त प्रीति काम है। गृहस्थ को इन तीनों वर्गों की साधना इस प्रकार से करनी चाहिए कि ये तीनों वर्ग एक–दूसरे के लिए परस्पर बाधक न बनें।

यूं तो पुरुषार्थ चतुष्टय का जीवन को सुन्दर व सुव्यवस्थित बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है, जिसमें मोक्ष भी एक है, पर यहाँ धर्म के साथ ही मोक्ष को जोड़ा गया है। श्राद्धगुणविवरण में कहा है–बुद्धिमान् शुद्ध परीक्षा पूर्वक परस्पर विघ्न बाधाओं से रहित हो त्रिवर्ग धर्म, अर्थ, काम का साधन करता हुआ क्रम से स्वर्ग व मोक्ष के सुख का भागी होता है।[4] योगशास्त्र में भी कहा है कि सद्गृहस्थ धर्म, अर्थ व काम तीनों वर्गों का परस्पर अबाधित रूप से साधक बने।[5] चाणक्यनीति में आया

1. काले भोक्ता च सात्म्यत: योग०, 1/52
2. जिह्वे प्रमाणं जानीहि भोजने वचने तथा।
   अतिभुक्त मतिचोक्तं प्राणिनां मरणप्रदम्।।
   श्राद्ध० 7, पृ० 17
3. स्था०सू०, 101.
4. अन्योन्याबाधया शुद्धोपधयाऽऽराधयन् सुधी:।
   त्रिवर्ग क्रमत: स्वर्गापवर्ग सुखभाग भवेत्।।
   श्राद्ध० भाग-8, पृ० 28
5. अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन्।।
   योग०, 1/52

है कि जिस मनुष्य को धर्म, काम एवं मोक्ष इनमें से एक भी नहीं है उसका जीवन बकरी के गलस्तन की तरह निरर्थक है।[1]

19. अतिथि आदि का सत्कार

सद्गृही के घर पर जिसके आने को कोई निश्चित समय नहीं होता उसको अतिथि कहते हैं–'न तिथि यस्य स अतिथि' सद्गृहस्थ को घर आए ऐसे अतिथि का स्वागत करना अभिप्रेत है। योगशास्त्र में भी कहा है कि अपनी शक्ति के अनुसार अतिथि, साधु एवं दीन दु:खियों की सेवा करने वाला[2] होना चाहिए। तैत्तरीयोपनिषद् में भी आता है–अतिथि देवो भव।[3] व्यास जी ने महाभारत में लिखा है कि जैसे वृक्ष जल सींचने वाले को भी छाया प्रदान करता है व काटने वाले को भी, वैसे ही सद्गृहस्थ घर में आए अतिथि का आतिथ्य व सम्मान करता है, भले ही उसका कोई शत्रु ही क्यों न हो।[4] अतिथि के बारे में श्राद्धगुणविवरण में कहा गया है कि जिन महात्माओं ने सम्पूर्ण तिथि पर्व व उत्सवों का परित्याग कर दिया है, उन्हीं को अतिथि समझना व शेष दूसरों को अभ्यागत जानना चाहिए।[5] इस प्रकार उनका सम्मान करना चाहिए। गुणवान् अतिथि साधु को श्रद्धापूर्वक व दीन दु:खी को अनुकम्पापूर्वक वस्तु देनी चाहिए। बाल्मीकि रामायण में भी अतिथि को पूजनीय बतलाया गया है।[6]

20. अभिनिवेश से दूर

अभिनिवेश कहते हैं–मिथ्या आग्रह को। सद्गृहस्थ को मिथ्या आग्रह से सदैव दूर रहना चाहिए क्योंकि मिथ्या आग्रह वाला व्यक्ति कभी भी सम्यक्त्व (श्रद्धा) को अपना नहीं सकता। आ० हेमचन्द्र जी ने योगशास्त्र में कहा है कि मिथ्या आग्रह से प्राणी सदैव दूर रहे,[7] कारण अभिनिवेश से रहित व्यक्ति ही धर्माधिकारी

1. धर्मार्थकाममोक्षाणांयस्यैकोऽपि न विद्यते।
   अजागलास्तनस्येवतस्यजन्मनिरर्थकम्।।
   चाण०, 13/10
2. योग०, 1/53
3. तैत०, 1/11/2
4. महा०भा०शान्ति०, 146/5
5. तिथिपर्वोत्सवा: सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
   अतिथि त विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदु:।।
   श्राद्ध०, भाग-8, पृ० 1
6. श्रीमद् वाल्मी०, सुन्दरकाण्ड-1/119
7. योग०, 1/53

बन सकत है। लेकिन आग्रही पुरुष प्राय: सत्यतत्वादिक से शून्य होने के कारण, जमाली की तरह अपने स्वीकार किए तत्त्वों का ही प्रतिपादन करते हैं।[1] श्राद्धगुणविवरणकार ने कहा है कि आग्रही पुरुष जिस बात को मानता है, उसी बात की तरफ युक्ति को खींच कर ले जाता है और पक्षपात रहित निराग्रही मनुष्य उसी बात की तरफ जाता है, जिस बात की तरफ युक्ति ले जाती है।[2] यही दोनों में आग्रही व्यक्ति और और आग्रह विरहित व्यक्ति में विशेष है।

21. गुण का पक्षपाती

सद्गृहस्थ गुणों अथवा उपलक्षण से गुणीजनों का पक्षपाती होना चाहिए क्योंकि गुणीजनों का गुणगान करने से अपने में वे गुण आ जाते हैं। तभी योगशास्त्र में कहा गया है कि पक्षपाती गुणेषु च।[3] आशय यह है कि गुणीजनी जब भी उसके सम्पर्क में आएँ, वह दाक्षिण्य, औदार्य व गम्भीरत्व का व्यवहार करें। श्राद्धगुणविवरण में बतलाया गया है–गुणहीन गुणी पुरुष को नहीं जानता और जो गुणी होता है, वह दूसरे गुणों का विरोधी होता है। गुणी भी हों और गुणों में अनुराग करने वाला भी हो अर्थात् दूसरे गुणियों का आदर करने वाला हो, ऐसा सरल मनुष्य तो कोई विरला ही होता है।[4] गुणीजनों के प्रति एवं स्व पर-कल्याणकारी आत्मधर्मरूप आत्मगुणों के प्रति पक्षपाती व्यक्ति निश्चय ही पुण्य का बीज बोकर परलोक में गुणसमूह सम्पत्ति प्राप्त करता है। चाणक्य नीतिकार का कथन है कि सब जगह गुण ही पूजे जाते हैं,[5] सम्पत्ति नहीं।

22. निषिद्ध देश-काल चर्या का त्याग

जिस देश और काल में जिस आचार का निषेध किया गया हो, उसे सद्गृहस्थ

1. भग०, 9/34
2. आग्रहीवत् विनीषति युक्तिं, यत्र तत्र मतिरस्य निविष्ट।
   पक्षपात रहितस्य तु बुद्धिर्यत्र तत्रं सुखमेति निवेशम्।।
   श्राद्ध०, भाग-9, पृ० 2
3. योग०, 1/53 (ख) प्र०सा०, द्वार 239/1357
4. नागुणी गुणिनं वेत्ति, गुणी गुणिषु मत्सरी।
   गुणी च गुण रागी च, विरल: सरलो जन:।।
   श्राद्ध०, 9 पृ०, 4
5. गुणा: सर्वत्र पूज्यन्ते। चाण०, 167

के लिए छोड़ देना चाहिए। आगम एवं सिद्धान्त ग्रंथों में भी इसी बात पर बल दिया है।[1] साध्वाचार के प्रतिनिधि शास्त्र दशवैकालिकसूत्र में साधु को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि साधु वेश्या के मोहल्ले में न जाए क्योंकि इससे उसके ब्रह्मचर्य में दोष लगने की सम्भावना हो सकती है।[2]

इसके अलावा साधु को अन्य अनेक ऐसे ही स्थलों पर न जाने तथा न रहने का पूर्णत: निषेध किया हुआ मिलता है। अतएव साधु-साध्वियों को चाहिए कि वे वर्जनीय वाक्यों का अक्षरश: पालन करें।

23. बलाबल का ज्ञाता

सद्गृहस्थ को अपनी अथवा दूसरे की द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाग की शक्ति जानकर व अपनी निर्बलता-सबलता का विचार करके सभी कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।[3] स्वपर के बलाबल का ज्ञान होने से ही काम सफल होते हैं, अन्यथा सभी व्यर्थ हो जाते हैं। कहा भी है कि यदि अपनी शक्ति देखकर परिश्रम किया जाता है, तो उपशम वाले प्राणियों की सम्पत्ति बढ़ती है और यदि शक्ति को न जानता हुआ काम किया जाता है, तो सम्पत्ति का नाश होता है।[4] अत: मनुष्य को बलाबल का ज्ञान होना आवश्यक है।

24. व्रतस्थों और ज्ञानवृद्धों का पूजक

अच्छा आचरण करना और अनाचार को छोड़ना व्रत है। जो आचरण करता है वह व्रतस्थ या व्रती कहलाता है।

त्याग करने व ग्रहण करने योग्य वस्तुओं का निश्चय करना 'ज्ञान' है। जो ऐसे ज्ञान में बढ़े हुए हों, उन्हें ज्ञानवृद्ध कहते हैं। सद्गृहस्थ को ऐसे व्रती तथा ज्ञानवृद्धों की पूजा करने वाला होना चाहिए।[4] श्राद्धगुणविवरण में वृद्धजनों की पहचान बताते हुए बतलाया गया है कि तपस्या, शास्त्रों की धारणा और विवेक–पाँच प्रकार के

1. योग०, 1/54
2. दशवै०सू०, 5/9
3. योग०, 1/54
4. स्थाने शमवतां शक्त्या, व्यायामे वृद्धिरद्धिनाम्।
   अयथा बलमारं भो, निदानं क्षय सम्पद:।।
   श्राद्ध०, भाग-9, पृ० 8
5. योग०, 1/54